३२ वैयक्तिक एवं सामूहिक कर्म

☐ पं० सुखलाल संघवी

अच्छी-बुरी स्थिति, चढ़ती-उतरती कला और सुख-दुःख की सार्वत्रिक विषमता का पूरा स्पष्टीकरण केवल ईश्वरवाद या ब्रह्मवाद में मिल ही नहीं सकता था। इसलिये कैसा भी प्रगतिशीलवाद स्वीकार करने के बावजूद स्वाभाविक रीति से ही परम्परा से चला आने वाला वैयक्तिक कर्मफल का सिद्धान्त अधिकाधिक दृढ़ होता गया। 'जो करता है वही भोगता है', 'हर एक का नसीब जुदा है, 'जो बोता है वह काटता है', 'काटने वाला और फल चखने वाला एक हो और बोने वाला दूसरा हो यह बात असंभव है'—ऐसे-ऐसे ख्याल केवल वैयक्तिक कर्मफल के सिद्धान्त पर ही रूढ़ हुए हैं। और सामान्यतः उन्होंने प्रजा-जीवन के हर क्षेत्र में इतनी गहरी जड़ें जमा ली हैं कि अगर कोई यह कहे कि किसी व्यक्ति का कर्म केवल उसी में फल या परिणाम उत्पन्न नहीं करता, परन्तु उसका असर उस कर्म करने वाले व्यक्ति के सिवाय सामूहिक जीवन में भी ज्ञात-अज्ञात रूप से फैलता है, तो वह समझदार माने जाने वाले वर्ग को भी चौंका देता है। और हरएक सम्प्रदाय के विद्वान् या विचारक इसके विरुद्ध शास्त्रीय प्रमाणों का ढेर लगा देते हैं। इसके कारण कर्म फल का नियम वैयक्तिक होने के साथ ही सामूहिक भी है या नहीं, यदि न हो तो किस-किस तरह की असंगतियाँ और अनुपत्तियाँ खड़ी होती हैं और यदि हो तो उस दृष्टि से ही समग्र मानव-जीवन का व्यवहार व्यवस्थित होना चाहिये या नहीं, इस विषय में कोई गहरा विचार करने के लिये रुकता नहीं है। सामूहिक कर्म फल के नियम की दृष्टि से रहित, कर्म फल के नियम ने मानव-जीवन के इतिहास में आज तक कौन-कौनसी कठिनाइयां खड़ी की हैं और किस दृष्टि से कर्म फल का नियम स्वीकार करके तथा उसके अनुसार जीवन-व्यवहार बनाकर वे दूर की जा सकती हैं, कोई एक भी प्राणी दुःखी हो, तो मेरा सुखी होना असंभव है। जब तक जगत् दुःख मुक्त नहीं होता, तब तक अरसिक मोक्ष से क्या फायदा? इस विचार की महायान भावना बौद्ध परम्परा में उदय हुई थी। इसी तरह हर एक सम्प्रदाय सर्व जगत् के क्षेम-कल्याण की प्रार्थना करता है और सारे जगत् के साथ मैत्री करने की ब्रह्मवार्ता भी करता है। परन्तु यह महायान भावना या ब्रह्मवार्ता अंत में वैयक्तिक कर्म फल वाद के दृढ़ संस्कार के साथ टकराकर जीवन जीने में ज्यादा उपयोगी सिद्ध नहीं हुई है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री केदार नाथजी और श्री मशरूवाला दोनों कर्म फल के नियम के बारे में सामूहिक जीवन की दृष्टि से विचार करते हैं। मेरे जन्मगत और शास्त्रीय संस्कार वैयक्तिक कर्मफलवाद के होने से मैं भी इसी तरह सोचता था। परन्तु जैसे-जैसे इस पर गहरा विचार करता गया, वैसे-वैसे मुझे लगने लगा कि कर्मफल का नियम सामूहिक जीवन की दृष्टि से ही विचारा जाना चाहिए और सामूहिक जीवन की जिम्मेदारी के ख्याल से ही जीवन का हरएक व्यवहार व्यस्थित किया तथा चलाया जाना चाहिये। जिस समय वैयक्तिक दृष्टि की प्रधानता हो, उस समय के चिन्तक उसी दृष्टि से अमुक नियमों की रचना करें, यह स्वाभाविक है। परन्तु उन नियमों में अर्थ विस्तार की संभावना ही नहीं है, ऐसा मानना देश-काल की मर्यादा में सर्वथा जकड़ जाने जैसा है। जब हम सामूहिक दृष्टि से कर्म फल का नियम विचारते या घटाते हैं, तब भी वैयक्तिक दृष्टि का लोप तो होता ही नहीं, उलटे सामूहिक जीवन में वैयक्तिक जीवन के पूर्ण रूप से समा जाने के कारण वैयक्तिक दृष्टि सामूहिक दृष्टि तक फैलती है और अधिक शुद्ध बनती है।

कर्मफल के नियम की सच्ची आत्मा तो यही है कि कोई भी कर्म निष्फल नहीं जाता और कोई भी परिणाम कारण के बिना उत्पन्न नहीं होता। जैसा परिणाम वैसा ही उसका कारण भी होना चाहिये। यदि अच्छे परिणाम की इच्छा करने वाला अच्छे कर्म नहीं करता, तो वह वैसा परिणाम नहीं पा सकता। कर्म फल नियम की यह आत्मा सामूहिक दृष्टि से कर्मफल का विचार करने पर बिल्कुल लोप नहीं होती। केवल वैयक्तिक सीमा के बन्धन से मुक्त होकर वह जीवन-व्यवहार गढ़ने में सहायक बनती है। आत्म समानता के सिद्धान्त के अनुसार विचार करें या आत्माद्वैत के सिद्धान्त के अनुसार विचार करें, एक बात तो सुनिश्चित है कि कोई व्यक्ति समूह से बिल्कुल अलग न तो है और न उससे अलग रह सकता है। एक व्यक्ति के जीवन इतिहास के लंबे पट पर नजर दौड़ा कर विचार करें तो हमें तुरन्त दिखाई देगा कि उसके ऊपर पड़े हुए और पड़ने वाले संस्कारों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरे असंख्य व्यक्तियों के संस्कारों का हाथ है। और वह व्यक्ति जिन संस्कारों का निर्माण करता है, वे भी केवल उसमें ही मर्यादित न रहकर समूहगत अन्य व्यक्तियों में प्रत्यक्ष या परम्परा से संचरित होते रहते हैं। वस्तुतः समूह या समष्टि का अर्थ है व्यक्ति या व्यष्टि का सम्पूर्ण जोड़।

यदि हर एक व्यक्ति अपने कर्म और फल के लिये पूरी तरह से जिम्मेदार हो और अन्य व्यक्तियों से बिल्कुल स्वतन्त्र उसके श्रेय-अश्रेय का विचार केवल उसी के साथ जुड़ा हो, तो सामूहिक जीवन का क्या अर्थ है ? क्योंकि बिल्कुल अलग, स्वतन्त्र और एक-दूसरे के असर से मुक्त व्यक्तियों का सामूहिक जीवन में प्रवेश केवल आकस्मिक ही हो सकता है। यदि ऐसा अनुभव होता हो कि सामूहिक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन से वैयक्तिक जीवन बिल्कुल स्वतन्त्र रूप में जिया नहीं जाता, तो तत्त्वज्ञान भी इसी अनुभव के आधार पर कहता है कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच चाहे जितना भेद दिखाई दे, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति किसी एक ऐसे जीवन सूत्र से ओत-प्रोत है कि उसके द्वारा वे सब व्यक्ति आस-पास एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यदि ऐसा है तो कर्म फल का नियम भी किसी दृष्टि से विचारा और लागू किया जाना चाहिये। अभी तक आध्यात्मिक श्रेय का विचार भी हरएक सम्प्रदाय ने वैयक्तिक दृष्टि से ही किया है। व्यावहारिक लाभालाभ का विचार भी इस दृष्टि के अनुसार ही हुआ है। इसके कारण जिस सामूहिक जीवन को जिये बिना काम चल नहीं सकता, उसे लक्ष्य में रखकर श्रेय या प्रेय का मूलगत विचार या आचार हो ही नहीं पाया। कदम-कदम पर सामूहिक कल्याण को लक्ष्य में रख कर बनाई हुई योजनाएं इसी कारण से या तो नष्ट हो जाती हैं या कमजोर होकर निराशा में बदल जाती हैं। विश्व शान्ति का सिद्धान्त निश्चित तो होता है, परन्तु बाद में उसकी हिमायत करने वाला हर एक राष्ट्र वैयक्तिक दृष्टि से ही उस पर विचार करता है। इससे न तो विश्व शान्ति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय समृद्धि स्थिर होती है। यही न्याय हरएक समाज पर भी लागू होता है। अब यदि सामूहिक जीवन की विशाल और अखण्ड दृष्टि का विकास किया जाये और उस दृष्टि के अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी की मर्यादा बढ़ावे तो उसके हिताहित दूसरे के हिताहितों के साथ टकराने न पावें और जहां वैयक्तिक नुकसान दिखाई देता हो वहां भी सामूहिक जीवन के लाभ की दृष्टि उसे संतुष्ट रखे, उसका कर्त्तव्य क्षेत्र विस्तृत बने और उसके सम्बन्ध अधिक व्यापक बनने पर वह अपने में एक भूमा को देखे।

दुःख से मुक्त होने के विचार में से ही उसका कारण माने गये कर्म से मुक्त होने का विचार पैदा हुआ। ऐसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहार की जिम्मेदारी स्वयं ही बंधन रूप है। जब तक उसका अस्तित्व है, तब तक पूर्ण मुक्ति सर्वथा असंभव है। इसी धारणा में से पैदा हुए कर्ममात्र की निवृत्ति के विचार से श्रमण परम्परा का अनगार-मार्ग और संन्यास परम्परा का वर्ण-कर्म-धर्म-संन्यास मार्ग अस्तित्व में आया। परन्तु इस विचार में जो दोष था, वह धीरे-धीरे ही सामूहिक जीवन की निर्बलता और लापरवाही के रास्ते से प्रकट हुआ। जो अनगार होते हैं या वर्ण-कर्म-धर्म छोड़ते हैं, उन्हें भी जीना होता है। इसका फल यह हुआ कि ऐसों का जीवन अधिक मात्रा में परावलम्बी और कृत्रिम बना। सामूहिक जीवन की कड़ियाँ टूटने और अस्तव्यस्त होने लगीं। इस अनुभव ने यह सुझाया कि केवल कर्म बंधन नहीं है। परन्तु उसके पीछे रही हुई तृष्णावृत्ति या दृष्टि की संकुचितता और चित्त की अशुद्धि ही बंधन रूप है। केवल वही दुःख देती है। यही अनुभव अनासक्त कर्मवाद के द्वारा प्रतिपादित हुआ है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पांव में सूई लग जाने पर कोई उसे निकाल कर फेंक दे तो आमतौर पर कोई उसे गलत नहीं कहता। परन्तु जब सूई फेंकने वाला बाद में सीने के और दूसरे काम के लिये नई सूई ढूंढ़े और उसके न मिलने पर अधीर होकर दु ख का अनुभव करे तो समझदार आदमी उसे जरूर कहेगा कि तूने भूल की। पाँव में से सूई निकालना ठीक था, क्योंकि वह उसकी योग्य जगह नहीं थी, परन्तु यदि उसके बिना जीवन चलता ही न हो तो उसे फेंक देने में जरूर भूल है। ठीक तरह से उपयोग करने के लिये योग्य रीति से उसका संग्रह करना ही पांव में से सूई निकालने का सच्चा अर्थ है। जो न्याय सूई के लिये है, वही न्याय सामूहिक कर्म के लिये भी है। केवल वैयक्तिक दृष्टि से जीवन जीना सामूहिक जीवन की दृष्टि में सूई भोंकने के बराबर है। इस सूई को निकाल कर उसका ठीक तरह से उपयोग करने का मतलब है सामूहिक जीवन की जिम्मेदारी को बुद्धि पूर्वक स्वीकार करके जीवन बिताना। ऐसा जीवन ही व्यक्ति की जीवन्मुक्ति है। जैसे-जैसे हर व्यक्ति अपनी वासना-शुद्धि द्वारा सामूहिक जीवन का मैल कम करता जाता है, वैसे-वैसे सामूहिक जीवन दुःख-मुक्ति का विशेष अनुभव करता है। इस प्रकार विचार करने पर कर्म ही धर्म बन जाता है। अमुक फल का अर्थ है रस के साथ छिलका भी। छिलका नहीं हो तो रस कैसे टिक सकता है? और रस रहित छिलका भी फल नहीं है। उसी तरह धर्म तो कर्म का रस है। और कर्म सिर्फ धर्म की छाल है। दोनों का ठीक तरह से संमिश्रण हो, तभी वे जीवन-फल प्रकट कर सकते हैं। कर्म के आलंबन के बिना वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन की शुद्धि रूप धर्म रहेगा ही कहाँ? और ऐसी शुद्धि न हो तो क्या उस कर्म की छाल से ज्यादा कीमत मानी जायेगी?

कर्म प्रवृत्तियाँ अनेक तरह की हैं। परन्तु उनका मूल चित्त में है। किसी समय योगियों ने विचार किया कि जब तक चित्त है, तब तक विकल्प उठते ही रहेंगे और विकल्पों के उठने पर शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। इसलिये 'मूले कुठारः' के न्याय को मानकर वे चित्त का विलय करने की ओर ही झुके। और अनेकों ने यह मान लिया कि चित्त विलय ही मुक्ति है, और वही परम साध्य है। मानवता के विकास का विचार एक ओर रह गया। यह भी बंधन रूप माने जाने वाले कर्म को छोड़ने के विचार की तरह भूल ही थी। इस विचार में दूसरे अनुभवियों ने सुधार किया कि चित्त विलय मुक्ति नहीं है, परन्तु चित्त शुद्धि ही मुक्ति है। चित्त शुद्धि ही शान्ति का एक मात्र मार्ग होने से यह मुक्ति अवश्य है, परन्तु सिर्फ वैयक्तिक चित्त की शुद्धि में पूर्ण मुक्ति मान लेने का विचार अधूरा है। सामूहिक चित्त की शुद्धि को बढ़ाते जाना ही वैयक्तिक चित्त शुद्धि का आदश होना चाहिये, और यह हो तो किसी दूसरे स्थान में या लोक में मुक्ति धाम मानने की या उसकी कल्पना करने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। ऐसा धाम तो सामूहिक चित्त शुद्धि में अपनी शुद्धि का हिस्सा मिलाने में ही है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हर एक सम्प्रदाय में सर्व भूतहित पर भार दिया गया है। परन्तु व्यवहार में मानव समाज के हित का भी शायद ही पूरी तरह से अमल देखने में आता है। इसलिए प्रश्न यह है कि पहले मुख्य लक्ष्य किस दिशा में और किस ध्येय की तरफ़ दिया जाय ? स्पष्ट है कि पहले मानवता के विकास की ओर लक्ष्य दिया जाय और उसके मुताबिक जीवन बिताया जाय। मानवता के विकास का अर्थ है—आज तक उसने जो-जो सद्‌गुण जितनी मात्रा में साधे हैं, उनकी पूर्ण रूप से रक्षा करना और उनकी मदद से उन्हीं सद्‌गुणों में ज्यादा शुद्धि करके नवीन सद्‌गुणों का विकास करना जिससे मानव-मानव के बीच द्वन्द्व और शत्रुता के तामस बल प्रकट न होने पावें। इस तरह जितनी मात्रा में मानव-विकास का ध्येय सिद्ध होता जायेगा उतनी मात्रा में समाज-जीवन सुसंवादी और सुरीला बनता जावेगा। उनका प्रांसगिक फल सर्वभूतहित में ही आने वाला है। इसलिये हर एक साधक के प्रयत्न की मुख्य दिशा तो मानवता के सद्‌गुणों के विकास की ही रहनी चाहिये। यह सिद्धान्त भी सामूहिक जीवन की दृष्टि से कर्म फल का नियम लागू करने के विचार में से ही फलित होता है।

ऊपर की विचार सरणी गृहस्थाश्रम को केन्द्र में रखकर ही सामुदायिक जीवन के साथ वैयक्तिक जीवन का सुमेल साधने की बात कहती है। यह ऐसी सूचना है जिसका अमल करने से गृहस्थाश्रम में ही बाकी के सब आश्रमों के सद्‌गुण साधने का मौका मिल सकता है। क्योंकि उसमें गृहस्थाश्रम का आदर्श इस तरह बदल जाता है कि वह केवल भोग का धाम न रहकर भोग और योग के सुमेल का धाम बन जाता है इसलिये गृहस्थाश्रम से अलग अन्य आश्रमों का विचार करने की गुंजाइश ही नहीं रहती। गृहस्थाश्रम ही चारों आश्रमों के समग्र जीवन का प्रतीक बन जाता है और वही नैसर्गिक भी है।

□ □ □

रे जीवा साहस आदरो, मत थाओ तुम दीन।
सुख-दुःख आपद-संपदा, पूरब कर्म अधीन ।।
कर्म हीण को ना मिलै, भली वस्तु का योग।
जब दाखें पकने लगीं, काग कंठ भयो रोग ।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org